THE HINDU

Date: 18-05-26

Diversification gains

India needs to improve export competitiveness in terms of cost and quality

Editorial

India's export performance in April 2026 has been commendable, underscoring the attempts by the government and industry to diversify in times of crisis. Despite the various trade disruptions, merchandise exports grew nearly 14% in April 2026 to $43.6 billion. Some of this, as even the Commerce Secretary has acknowledged, is due to the overall rise in prices. Another significant factor has been the increase in the number of markets served by Indian exporters. According to government data, at least 20 exporting sectors have added 17 or more new destinations in the last year. For example, handloom products are now exported to 29 more countries than in 2024-25. The additional exports thus generated are still small, but establishing these pathways is vital progress. The data also show that several of India's key export sectors — engineering goods, petroleum products, electronic goods, drugs and pharmaceuticals, and organic and inorganic chemicals — exported more in April 2026 than in the same month last year. This suggests resilience in these supply chains, and the establishment of new ones. Another test of the strength of India's export growth is to remove the effect of petroleum products and their inflated prices from the mix. Here, too, India has performed reasonably well. India's non-oil exports grew 9% in April 2026 to about $40 billion. Notably, India's merchandise export growth also outpaced the growth of its imports at 9.9%.

That said, the impact of the West Asia crisis is clear. Exports to West Asia fell by 28% in April, following up on an even larger contraction in March. Imports from the region, too, fell about 32%. This is a vital trade link for India and gains in other regions are not yet enough to outweigh the losses here. Imports of the safe-haven asset gold jumped 82% in April, which is perhaps what prompted the Prime Minister to urge Indians to stop buying gold, and the government to hike the import duty. Another highlight of the data is the continued rise in the significance of the services sector. The share of services in total exports has risen to about 49% compared to 39% in 2014. Rather than a reason for complacency, this should make the government take note. Any loss of a competitive edge in IT services, especially, due to the rise of Artificial Intelligence, will be an increasingly costly loss to India. Overall, however, the government's push for diversification of export destinations — including through concerted activity to seal various trade deals — seems to be bearing fruit. Now, if only it could also improve export competitiveness in terms of cost, scale, and quality, India would really become a global contender.

दैनिक जागरण

Date: 18-05-26

न्यायाधीशों का संख्याबल

संपादकीय

सुप्रीम कोर्ट में न्यायाधीशों की संख्या 33 से बढ़ाकर 37 करने के लिए केंद्र सरकार ने जिस तरह अध्यादेश जारी किया, उससे यह पता चलता है कि वह शीर्ष कोर्ट में शीघ्र ही न्यायाधीशों की संख्या बढ़ते हुए देखना चाहती है। अब मुख्य न्यायाधीश को मिलाकर सर्वोच्च न्यायालय में कुल न्यायाधीशों की संख्या बढ़कर 38 हो जाएगी। निश्चित रूप से इससे सुप्रीम कोर्ट में लंबित मुकदमों के बोझ को कम करने और न्यायिक प्रणाली में तेजी लाने में सहायता मिलेगी। उम्मीद की जाती है कि इसके चलते सुप्रीम कोर्ट से लोगों को शीघ्र न्याय मिल सकेगा, लेकिन प्रश्न यह है कि उच्च न्यायालयों एवं अधीनस्थ न्यायालयों में स्थिति कैसे और कब बदलेगी? आवश्यकता ऐसे उपाय करने की भी है कि उच्च न्यायालयों एवं अधीनस्थ न्यायालयों में भी लंबित मुकदमों का बोझ कम हो और लोगों को समय पर न्याय सुलभ हो। इसकी अनदेखी नहीं की जा सकती कि सुप्रीम कोर्ट से लेकर जिला स्तर तक की अदालतों में लंबित मुकदमों की संख्या लगभग पांच करोड़ पहुंच गई है। न तो लंबित मुकदमों का बोझ कम हो रहा है और न ही लोगों को समय पर न्याय मिल पा रहा है। स्थिति यह है कि सामान्य मामलों का निपटारा होने में भी वर्षों और कई बार तो दशकों लग जाते हैं। यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि न्याय में देरी एक तरह का अन्याय ही है।

सर्वोच्च न्यायालय हो या उच्च न्यायालय या अधीनस्थ न्यायालय, इनमें केवल न्यायाधीशों की संख्या बढ़ाने से ही बात बनने वाली नहीं है। यदि समय पर न्याय देना है तो हर स्तर पर न्यायपालिका को पर्याप्त इन्फ्रास्ट्रक्चर से लैस भी करना होगा। न्याय में देरी का एक कारण न्यायाधीशों की कमी ही नहीं, बल्कि संसाधनों का अभाव भी है। सर्वोच्च न्यायालय के अतिरिक्त अन्य न्यायालयों में भी न्यायाधीशों की संख्या बढ़ाने पर गंभीरता से विचार इसलिए किया जाना चाहिए, क्योंकि अपने देश में प्रति दस लाख जनसंख्या पर लगभग 22 न्यायाधीश ही कार्यरत हैं। इसके विपरीत विकसित देशों में प्रति दस लाख आबादी पर न्यायाधीशों की संख्या सौ से अधिक है। दशकों पहले विधि आयोग ने त्वरित न्याय सुनिश्चित करने के लिए प्रति दस लाख आबादी पर कम से कम 50 न्यायाधीशों की नियुक्ति की आवश्यकता जताई थी। कोई नहीं जानता कि इस आवश्यकता की पूर्ति क्यों नहीं की जा पा रही है? समय पर न्याय उपलब्ध कराने के लिए यह भी आवश्यक है कि न्यायिक प्रक्रिया के तौर-तरीके बदलें। इसके अतिरिक्त, कार्यपालिका अपने लोगों के खिलाफ मुकदमे करने की प्रवृत्ति का परित्याग करे। यदि यह सब नहीं किया जाता तो तारीख पर तारीख का सिलसिला थमने वाला नहीं है।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 18-05-26

किसानों के हित और पशु संरक्षण को लेकर बढ़ती दुविधा

सुनीता नारायण

जंगली जानवरों के आतंक से किसानों की फसलें बरबाद हो रही हैं और इससे उनके आर्थिक नुकसान में भारी बढ़ोतरी हो रही है। इस कारण देश के कई हिस्सों में खेती करना मुश्किल होता जा रहा है। अब यह संघर्ष सिर्फ बाघ, हाथी और तेंदुए जैसे बड़े जानवरों तक सीमित नहीं रहा है बल्कि जंगली सुअर, नीलगाय, अन्य खुर वाले पशु और सबसे ज्यादा नुकसान पहुंचाने वाले बंदर भी इसमें शामिल हैं। यह एक ऐसा तथ्य है जिस पर कोई चर्चा नहीं करना चाहता और न ही इसे सुलझाने में हमारी कोई दिलचस्पी है। संरक्षण से जुड़े लोग इस चर्चा से बचना चाहते हैं और उनके लिए यह शायद सही भी है क्योंकि अगर कोई टकराव होता है, तो उसका दोष मनुष्यों पर ही है।

हम जानते हैं कि इंसान, जंगली जानवरों के आवास को नष्ट कर रहे हैं और उन्हें आसान भोजन और शिकार की तलाश में जंगलों से बाहर आने के लिए मजबूर कर रहे हैं। यह संघर्ष आंशिक रूप से सफल वन्यजीव संरक्षण का भी परिणाम है, जिसने जानवरों की संख्या बढ़ा दी है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि इस बहाने हम किसानों की स्थिति पर ध्यान न दें।

हम इस मुद्दे को ठंडे बस्ते में डाल देते हैं और चूंकि इससे गरीब प्रभावित होते हैं, इसलिए इसे नजरअंदाज करना और भी आसान हो जाता है। वर्ष 2025 में 'मानव-वन्यजीव संघर्षः महाराष्ट्र में शुद्ध कृषि घाटे का अनुमान' शीर्षक वाली रिपोर्ट, पुणे के गोखले इंस्टीट्यूट ऑफ पॉलिटिक्स ऐंड इकनॉमिक्स द्वारा तैयार की गई है। इस शोध के मुताबिक राज्य में वन्यजीवों के कारण होने वाला शुद्ध कृषि नुकसान सालाना लगभग 10,000 करोड़ रुपये से 40,000 करोड़ रुपये तक हैं। रिपोर्ट के मुताबिक यह आंकड़ा भी वास्तविकता से कम है। चिंताजनक बात यह है कि इस अध्ययन में पाया गया कि 62 फीसदी किसानों ने जानवरों के हमलों के कारण अपनी फसल का रकबा कम कर दिया। किसानों ने जानवरों द्वारा की जाने वाली फसल क्षति को मुख्य समस्या बताया और इसके बाद असमय बारिश और उत्पाद के लिए कम बाजार कीमतों का स्थान है। वहीं एक-तिहाई किसानों ने कहा कि ये नुकसान उनकी आय में कमी के मुख्य कारण हैं।

ब्रिटिश कोलंबिया विश्वविद्यालय, कनाडा और भारत के सेंटर फॉर वाइल्डलाइफ स्टडीज द्वारा वर्ष 2021 में किए गए एक अध्ययन के मुताबिक कर्नाटक के किसान हर साल 1 से 3 महीने की आय जंगली जानवरों के हमलों में खो देते हैं। एक हाथी के कारण, एक किसान को 20 फीसदी या उससे अधिक नुकसान हो सकता है। वर्ष 2025 में कर्नाटक के कोडगु जिले

का अध्ययन बताता है कि करीब 50 फीसदी किसानों को सालाना लगभग 90,000 रुपये का नुकसान हुआ जिस कारण कई लोग कर्ज में डूब गए। हिमाचल प्रदेश के वन विभाग के अनुमान के मुताबिक, सालाना फसल क्षति लगभग 500 करोड़ रुपये है और यदि बाड़ लगाने और अन्य सुरक्षा उपायों की अप्रत्यक्ष लागत शामिल की जाए तो यह कम से कम 1,500 करोड़ रुपये तक पहुंच जाती है।

तमिलनाडु के पश्चिमी घाट में इस वर्ष किए गए में अध्ययन में भी इस बात की पुष्टि होती है। इस अध्ययन के मुताबिक 90 फीसदी किसानों ने वन्यजीव संघर्ष को प्रमुख उत्पादन जोखिम बताया और उनकी करीब 50-60 फीसदी फसलों को मुख्य रूप से जंगली सुअर, मोर और हाथियों ने नुकसान पहुंचाया। देशभर में 'डाउन टु अर्थ' की जांच में भी यही कहानी सामने आई। आमदनी घटना, आजीविका के साधन में कमी और बढ़ता कर्ज अब सवाल यह है कि इस संबंध को कैसे दोबारा संतुलित किया जाए और मानव तथा पशुओं के बीच सह-अस्तित्व की कोई व्यवस्था कैसे बनाई जाए?

अब तक भारत सरकार की प्रतिक्रिया धीमी, बेहद असंगत और निराशाजनक रही है। अच्छी बात यह है कि सरकार अब इस संकट की गंभीरता को स्वीकार कर रही है। वर्ष 2026 के जून-जुलाई खरीफ सीजन से, सरकार ने राष्ट्रीय फसल बीमा योजना, प्रधानमंत्री फसल बीमा योजना में जंगली जानवरों के कारण होने वाले नुकसान को शामिल किया है।

किसानों को नुकसान की रिपोर्ट दर्ज करने के लिए 72 घंटे का समय दिया जाता है, जिसे ड्रोन के माध्यम से सत्यापित किया जाएगा और उसके बाद मुआवजे का भुगतान किया जाएगा। यह कितना कारगर साबित होगा, यह देखने वाली बात है क्योंकि योजना में पहले से ही कई कमियां हैं। इसके अलावा, किसानों को मुआवजा देने की जिम्मेदारी राज्य सरकारों की है।

गोखले संस्थान की रिपोर्ट में यह भी पाया गया कि जब जंगली जानवरों के हमलों से प्रभावित 25 फीसदी किसानों ने मुआवजे के लिए आवेदन किया तब केवल 12 फीसदी को ही नुकसान के अनुसार भुगतान मिला। अधिकांश किसानों को योजना की जानकारी ही नहीं थी या वे इसकी जटिल प्रशासनिक प्रक्रियाओं को समझ नहीं पाए ।

सबसे बड़ा मुद्दा केरल है जहां यह समस्या सिर्फ इंसानों और जानवरों के बीच संघर्ष नहीं रह गई बल्कि केंद्र और राज्य के बीच विवाद भी बन गई है। वन्यजीव संरक्षण अधिनियम की धारा 62 के तहत केवल केंद्र सरकार ही किसी जंगली जानवर को 'हानिकारक' घोषित कर सकती है ताकि वन विभाग उसे मार सके। केंद्र सरकार विशेष जानवरों के लिए भी ऐसा करने में हिचकिचा रही है। केरल सरकार ने वर्ष 2024-25 में अपना वन्यजीव सुरक्षा विधेयक पेश किया जिसमें जंगली सुअर के हमलों को राज्यव्यापी आपदा घोषित किया गया और इस जानवर को 'हानिकारक' श्रेणी में रखा। इस साल फरवरी में, केरल के राज्यपाल आखिरकार इस विधेयक को राष्ट्रपति के पास मंजूरी के लिए भेजने की अनुमति दी। यह विधेयक किसानों को खुद जंगली सुअर मारने की अनुमति नहीं दे बल्कि यह अधिकार लाइसेंस प्राप्त निशानेबाजों को देता है, जिन्हें पंचायतों के माध्यम से बुलाकर जानवर को नियंत्रित किया जा सके।

पिछले साल के अंत में राष्ट्रीय वन्यजीव बोर्ड ने रीसस मकाक बंदर को फिर से अनुसूची 2 में शामिल करने की सिफारिश की, जिससे उन्हें मारना मुश्किल हो जाएगा। यह सिफारिश पशु अधिकार समूहों के दबाव में आई, लेकिन इसमें यह तथ्य नजरअंदाज किया गया कि वन विभाग भी मानता है कि बंदर अब एक समस्या बन चुके हैं और नसबंदी के प्रयासों के

बावजूद उनकी संख्या नियंत्रित नहीं हुई। मैं इसे असंवेदनशील निर्णय कहूंगी। ऐसा करने से केवल संघर्ष बढ़ेगा और यह कम नहीं होगा। यह न तो संरक्षण के लिए अच्छा है और न ही किसानों के लिए।

जनसत्ता

Date: 18-05-26

संकट के समांतर

संपादकीय

अमेरिका के राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रंप के चीन दौरे से यह उम्मीद की जा रही थी कि पश्चिम एशिया में संघर्ष का कोई हल निकलेगा, जिससे वैश्विक स्तर पर गहरा रहे संकट से राहत मिलेगी। मगर दोनों देशों के शीर्ष नेतृत्व के बीच हुई वार्ता के नतीजों से यह साफ है कि विश्व की आर्थिक महाशक्तियों को बाकी दुनिया की कोई फिक्र नहीं है। खबरों के मुताबिक, बैठक द्विपक्षीय मसलों पर ही केंद्रित रही और ट्रंप ने इसे 'जी-2' देशों का सम्मेलन बताया, जिसमें दोनों देशों के बीच कई व्यापारिक समझौते हुए। सवाल है कि खुद को दुनिया के सबसे ताकतवर बताने वाले देशों की क्या वैश्विक समुदाय के प्रति कोई जिम्मेदारी नहीं है, क्या उनकी यह ताकत सिर्फ निहित स्वार्थों तक ही सीमित है? पिछले कुछ वर्षों से विश्व के आर्थिक हितों को देखने के अमेरिका के नजरिए में बदलाव साफ नजर आ रहा है। अब यह साझा उदार मूल्यों पर नहीं, बल्कि महाशक्तियों के प्रभाव क्षेत्रों पर केंद्रित होता दिख रहा है। ऐसे में सवाल यह नहीं है कि अमेरिका और चीन परस्पर सहयोग कर सकते हैं या नहीं, बल्कि यह है कि उनके बीच तालमेल संभव हो सका, तो वह किस तरह की वैश्विक व्यवस्था तैयार करेगा।

दो देशों का समूह यानी 'जी-2' शब्द वर्ष 2005 में अमेरिका के एक प्रमुख अर्थशास्त्री ने गढ़ा था। उनका ने विचार था कि दुनिया की दो सबसे बड़ी अर्थव्यवस्थाओं अमेरिका और चीन के बीच मजबूत साझेदारी होनी चाहिए। इस विचार का उद्देश्य प्रमुख अर्थव्यवस्थाओं के समूह 'जी- 20' को और मजबूत करना था। तब वैश्विक वित्तीय संकट से निपटने के लिए 'जी- 20' की रणनीति के तहत अमेरिका ने शुरुआती दौर में 787 अरब डालर, जबकि चीन ने 586 अरब डालर का प्रोत्साहन पैकेज दिया था। इससे दुनिया को बड़े आर्थिक संकट से बचाने में मदद मिली। मगर पश्चिम एशिया में संघर्ष से उपजे वैश्विक संकट के बीच हाल में अमेरिका के राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रंप और चीन के राष्ट्रपति शी जिनपिंग के बीच हुई वार्ता में वैश्विक चिंताओं के बजाय परस्पर हितों की एक नई तस्वीर उभरकर सामने आई है। दोनों देशों के बीच बोइंग विमानों की खरीद समेत कई अहम व्यापारिक समझौते हुए हैं। यानी अब अमेरिका-चीन सहयोग का मतलब यह नहीं है कि उससे दुनिया के बाकी देशों के लिए सकारात्मक माहौल बनेगा, बल्कि यह एक ऐसे निजी समझौते की तरह दिखाई देता है, जिसमें दो महाशक्तियां सिर्फ अपने हित साध रही हैं।

गौरतलब है कि होर्मुज जलमार्ग के बाधित होने से वैश्विक स्तर पर ऊर्जा समेत कई आवश्यक वस्तुओं का संकट पैदा हो गया है। अमेरिका और ईरान के अड़ियल रवैये की वजह से शांति वार्ता आगे नहीं बढ़ पा रही है, जिसका असर तमाम देशों

की अर्थव्यवस्था पर पड़ रहा है। इसमें दोराय नहीं कि शांति वार्ता के लिए एक प्रभावी मध्यस्थ की जरूरत है और चीन इसमें अहम भूमिका निभा सकता है। मगर अमेरिका और चीन के राष्ट्राध्यक्षों की मुलाकात में इस मसले को तवज्जो नहीं देने को किस रूप में देखा जाएगा। खबरों के मुताबिक, इस दौरान ताइवान का मसला जरूर उठा और इस पर चीन ने अमेरिका को चेताते हुए कहा कि यदि इस मुद्दे को सही ढंग से नहीं संभाला गया, तो दोनों देशों के बीच टकराव की स्थिति पैदा हो सकती है। इससे स्पष्ट है कि इन दोनों महाशक्तियों के लिए वैश्विक संकट के बीच भी सिर्फ अपने व्यापारिक, रणनीतिक और भू-राजनीतिक हित ही सर्वोपरि हैं।

Date: 18-05-26

समावेशी विकास में भागीदारी का सवाल

अर्चना कुमारी

भारत में महिलाएं देश की आबादी का लगभग आधा हिस्सा हैं। जब भी हम महिलाओं की समानता की बात करते हैं, तो यह भूल जाते हैं कि किसी भी वर्ग में समानता के लिए सबसे पहले अवसरों का बराबर होना बेहद जरूरी है। यह भी किसी से छिपा नहीं है कि देश की राजनीति में महिलाओं की भूमिका अभी भी हाशिये पर है। यह स्थिति तब है, जबकि महिलाओं ने, राजनीति में जब भी मौका मिला, अपनी योग्यता और क्षमताओं का लोहा मनवाया है। ऐसे में यह सवाल उठना स्वाभाविक है कि आजादी के 75 वर्षों में लैंगिक समानता की दिशा में हासिल की गई उपलब्धियां आखिर गिनती की ही क्यों रह गई हैं? सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इस असमानता की खाई को अब तक क्यों नहीं भरा जा सका है?

इसमें कोई दोराय नहीं है कि स्त्री शक्ति ने देश-दुनिया में समय-समय पर अपनी प्रतिभा का बेहतर प्रदर्शन किया है। मगर महिलाओं को कमतर होने का अहसास दिलाने की पुरुष वर्ग की मानसिकता आज भी उन्हें उनके हक से वंचित कर रही है। नारी सशक्तीकरण की बातें कागजी योजनाओं में काफी अच्छी लगती हैं, पर धरातल पर अभी काफी कुछ होना बाकी है। खासतौर से देश की आधी आबादी को लोकतांत्रिक व्यवस्था में बराबरी का हक देने को लेकर। इसे विडंबना ही कहा जाएगा कि विधायिका में महिलाओं के लिए पचास फीसद नहीं, बल्कि महज तैंतीस फीसद आरक्षण की मांग आज भी अधूरी है। पंचायत और स्थानीय निकाय स्तर पर आरक्षण से महिलाओं को प्रतिनिधित्व का मौका जरूर मिला, लेकिन यहां भी उनका कितना सशक्तीकरण हो पाया है, यह किसी से छिपा नहीं है। शिक्षित, आर्थिक रूप से स्वावलंबी और ऊंचे पद पर बैठी महिलाओं के विपरीत लैंगिक भेदभाव की उस तस्वीर को भी देखना होगा, जहां महिलाओं को यह भी पता नहीं कि कानून ने किन-किन क्षेत्रों में उन्हें कितना संरक्षित कर रखा है।

संसद में भी पुरुषों के मुकाबले महिलाओं का प्रतिनिधित्व बहुत कम है। वर्ष 2024 के संसदीय चुनावों के बाद महिला सांसदों का प्रतिनिधित्व मात्र चौदह फीसद ही है, इसीलिए उन पर दायित्व और प्रतिनिधित्व का भार निर्वाचित पुरुष सांसदों से कहीं अधिक है। देश की मौजूदा जनसंख्या के अनुसार, लोकसभा में एक निर्वाचित सांसद औसतन 26 लाख लोगों का प्रतिनिधित्व करता है, जबकि एक निर्वाचित महिला सांसद औसतन 92 लाख महिलाओं का प्रतिनिधित्व करतीं है। ऐसे में निर्वाचित महिला सांसदों का राजनीतिक दायित्व भी कहीं अधिक है। जाहिर है, महिला अधिकारों और उनके राजनीतिक प्रतिनिधित्व के दावों तथा उसकी वास्तविकता के मध्य एक गहरा विरोधाभास है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि डा आंबेडकर महिलाओं की उन्नति के प्रबल पक्षधर थे। उनका मानना था कि किसी भी समाज का मूल्यांकन इस बात से किया जाता है कि उसमें महिलाओं की क्या स्थिति है।

दुनिया की लगभग आधी आबादी महिलाओं की है, इसलिए जब तक उनका समुचित विकास नहीं होता, कोई भी देश चहुंमुखी विकास नहीं कर सकता। डा आंबेडकर का मानना था कि सही मायने में प्रजातंत्र तब आएगा, जब महिलाओं को पैतृक संपत्ति में बराबरी का हिस्सा मिलेगा, उन्हें पुरुषों के समान अधिकार दिए जाएंगे और घर-परिवार एवं समाज में बराबरी का दर्जा मिलेगा। यह सच है कि शिक्षा और आर्थिक तरक्की महिलाओं को सामाजिक बराबरी दिलाने में मदद करेगी। मगर इस बात से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि देश में पितृसत्तात्मक मानदंडों और परंपरागत मानसिकता के कारण महिलाओं को हाशिये पर रखा गया। आजादी के बाद देश के संविधान ने यह व्यवस्था दी कि राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में पुरुषों एवं महिलाओं के साथ समान व्यवहार किया जाएगा, लेकिन अधिकांश राज्य विधानसभाओं में महिला सदस्यों के प्रतिनिधित्व का परिदृश्य आज भी निराशाजनक है।

वास्तव में देश की आधी आबादी का एक बहुत बड़ा हिस्सा अभी भी अपने मूलभूत अधिकारों से वंचित है। विश्व आर्थिक मंच की 'ग्लोबल जेंडर गैप इंडेक्स-2022' की रिपोर्ट में भारत का नाम 146 देशों की सूची में 135वें स्थान पर रहा है। यह भी सच है कि भारत समेत अनेक देशों में आज भी महिलाएं अपने अधिकारों को लेकर जागरूक नहीं हैं। लिंगभेद का शिकार सबसे ज्यादा आज भी महिलाएं ही हैं। कई परिवारों में लड़कियों को इस दौर में भी पढ़ाई से दूर रखा जाता है जो महिलाएं घर-परिवार के प्रोत्साहन और संघर्ष से किसी तरह आगे निकल जाती हैं, उन्हें कभी पदोन्नति में बाधा, तो कभी कार्यस्थल पर उत्पीड़न झेलना पड़ता है। इसके अलावा देश में महिलाओं के कुपोषण का आंकड़ा भी हैरान करने वाला है।

आज जरूरत इस बात की है कि महिलाओं को सिर्फ वोट बैंक न समझा जाए। महिला सशक्तीकरण के नाम पर उन्हें हर महीने चंद रुपए की आर्थिक मदद देने से वे सही मायनों में सशक्त नहीं हो पाएंगी। कायदे से महिलाओं को हर क्षेत्र में प्राथमिकता दी जानी चाहिए और उन्हें आर्थिक रूप से स्वावलंबी बनाना होगा। यह तभी संभव होगा, जब महिलाओं की राजनीति में हिस्सेदारी बढ़ेगी और उनसे जुड़े मसलों पर विचार-विमर्श के बाद नीत निर्माण होगा। देश में महिलाओं की सुरक्षा का सवाल भी अहम है। आज स्थिति यह है कि महिलाएं घर और बाहर कहीं भी सुरक्षित नहीं हैं। महिलाओं के प्रति अपराध के मामले साल दर साल बढ़ रहे हैं। ऐसा भी नहीं है कि महिलाओं के खिलाफ बढ़ते अपराधों पर रोक लगाने के लिए कानून नहीं बनाए गए हैं, मगर उनका प्रभावी अनुपालन नहीं हो पा रहा है। नतीजतन पीड़ित महिलाओं की न्याय के लिए लंबा संघर्ष करना पड़ता है। इसके बाद भी यह निश्चित नहीं होता है कि उन्हें सही मायने में न्याय मिल पाएगा या नहीं। ऐसे में महिलाएं अत्याचार के खिलाफ आवाज उठाने से भी कतराती हैं। इस स्थिति को हर हाल में बदलना होगा।

दरअसल, महिलाओं को विकास की मुख्यधारा से जोड़े जाने की जरूरत है। देश की राजनीति से लेकर रोजगार के मामले में महिलाओं की भागीदारी कम होने के पीछे प्रमुख कारण अब तक समाज में पितृसत्तात्मक ढांचे का मौजूद होना है। महिलाओं के प्रतिनिधित्व के मुद्दों पर राजनीतिक वर्ग का भेदभावपूर्ण रवैया चिंताजनक है। इसलिए यह अनिवार्य हो जाता है कि विभिन्न स्तर पर महिलाओं की हिस्सेदारी का विश्लेषण किया जाए, ताकि यह पता लगाया जा सके कि समाज में आज भी कितनी असमानता है और इसे कैसे दूर किया जा सकता है अगर संसद से इस असमानता को समाप्त करने की शुरुआत की जाए, तो संभवतः यह देश के लिए एक बड़ा संदेश होगा और साथ ही महिला सशक्तीकरण की दिशा में बड़ी पहल साबित होगी। हमें इस बात को समझना होगा कि पुरुषों और महिलाओं की समान भागीदारी न केवल न्याय और लोकतंत्र के लिए अहम है, बल्कि यह सुव्यवस्थित मानव अस्तित्व के लिए भी अनिवार्य है। जाहिर है, शिक्षा से लेकर स्वास्थ्य तक और प्रशासन से लेकर राजनीति तक महिलाओं को अभी व्यापक अवसर तथा सुविधाएं देना बाकी है। यह काम सरकारों को भी करना होगा और समाज को भी।

Live हिन्दुस्तान .com

Date: 18-05-26

आर्थिक संकट से निपटने में कमखर्ची की सीमाएं

हिमांशु, (एसोशिएट प्रोफेसर, जेएनयू)

प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने हाल ही में देशवासियों से अपील की है कि वे सोना खरीदना कम करें, विदेश यात्राओं से बचें, खाद्य तेल, निजी वाहनों का इस्तेमाल कम करें और जहां तक मुमिकन हो, घर से काम करने को प्राथमिकता देकर मितव्ययिता को अपनाएं। उन्होंने किसानों को भी रासायनिक खादों से बचने और प्राकृतिक खेती शुरू करने के लिए प्रोत्साहित किया। ज्यादातर उपायों का मकसद उन चीजों की खपत कम करना है, जिनका भारत को बड़े पैमाने पर आयात करना पड़ता है।

इस तरह के सुझाव अमूमन अर्थव्यवस्था और समाज के लिए अच्छे ही हैं, लेकिन ये सामान्य नहीं हैं, क्योंकि ये एक ऐसे संकट से उपजे हैं, जो पिछले कुछ समय में पैदा हुआ है। खासकर पश्चिम एशिया के युद्ध और अर्थव्यवस्था की ढांचागत कमजोरियों से उपजी अनिश्चितता को देखते हुए ये सुझाव कुछ गंभीर संकेत देते हैं। तेल संकट का असर वैश्विक बाजार में पेट्रोलियम व उर्वरकों की बढ़ती कीमतों में तो दिखाई दे ही रहा है, उद्योग के लिए जरूरी चीजें भी महंगी हो गई हैं। उर्वरकों व पेट्रोलियम उत्पादों की आपूर्ति शृंखला में रुकावटें तो कहानी का सिर्फ एक हिस्सा हैं। व्यापक आर्थिक संकेतकों पर इसका असर रुपये में तेज गिरावट, चालू खाता घाटे में वृद्धि आदि पर साफ-साफ देखा जा सकता है।

आम तौर पर ऐसे संकटों से निपटने के लिए खर्च में कटौती सबसे बेहतर तरीका माना जाता रहा है, लेकिन विकासशील देशों समेत कई अन्य मुल्कों के अनुभव खराब रहे हैं। सरकारी खर्च में कटौती से सरकारी कर्ज कम करने में मदद मिलती है, जिससे कुल उपभोग कम होता है। ऐसे उपायों से आर्थिक गतिविधियों को कुछ राहत जरूर मिलती है, मगर कई बार मंदी आ जाती है। पहले से ही कम निवेश वाली अर्थव्यवस्थाओं में मांग न होने से इस तरह का जोखिम लेना ज्यादा गंभीर

साबित हुआ है। भारतीय अर्थव्यवस्था के मामले में इसे गंभीरता से लेने की जरूरत है। खर्च में किसी भी तरह की कटौती उससे जुड़ी आर्थिक गतिविधियों को कम कर देती है। उदाहरण के लिए, गहनों के निर्माण और बिक्री में लगे लाखों लोगों के बेरोजगार होने का खतरा पैदा हो सकता है।

श्रीलंका और पाकिस्तान जैसे विकासशील देशों ने वस्तुओं के आयात पर प्रतिबंध लगाए हैं, लेकिन इनमें से ज्यादातर देश पहले ही नाजुक आर्थिक स्थिति में हैं, ऊपर से उन पर अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष की ओर से राजकोषीय घाटा कम करने की शर्तें आयद हैं। साल 2008 के वित्तीय संकट के बाद ग्रीस, इटली और अन्य यूरोपीय देशों में खर्च-कटौती के कारण लंबे समय तक मंदी का दौर चला। लातिनी अमेरिकी देशों को भी लंबे समय तक आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा। इसी तरह, श्रीलंका ने अप्रैल 2021 में विदेशी मुद्रा बचाने के लिए प्राकृतिक खेती को बढ़ावा दिया, पर वह जिस समस्या को हल करने की कोशिश कर रहा था, उससे भी बड़े संकट में फंस गया। इसके चलते उसके कृषि उत्पादन में लगभग 30 से 50 प्रतिशत तक की गिरावट आई, साथ ही महंगाई और भुखमरी बढ़ गई। नतीजा यह हुआ कि वहां जन-विद्रोह फैल गया और सरकार बदल गई।

भारत के खुदरा महंगाई के ताजा आंकड़ों से पता चलता है कि खाद्य महंगाई मार्च 2026 में 3.9 प्रतिशत से बढ़कर अप्रैल 2026 में 4.2 प्रतिशत हो गई है। इसके और बढ़ने की आशंका है। ऐसे में, जिस साल मानसून कमजोर रहने का अंदेशा हो, उस साल ऐसी किसी नीतिगत पहल से सावधान रहना चाहिए, जिससे खाद्य सुरक्षा को खतरा पैदा हो। दुनिया भर के पिछले अनुभवों को देखते हुए युद्धजनित संकट पर बिना सोचे-समझे लिए गए निर्णय आर्थिक स्थिति को और खराब कर सकते हैं। प्रधानमंत्री ने अभी खर्च में कटौती का सुझाव दिया है, पर ऐसा कड़ा कदम उठाने से पहले उसके असर को समझना बहुत जरूरी है।

इस बीच, उन लाखों लोगों की आजीविका भी बचानी है, जिन पर महंगाई की मार पड़ने वाली है। हालांकि, नीतियों के मामले में कई विकल्प मौजूद हैं, लेकिन खर्च में कटौती आर्थिक संकट से निपटने में शायद ही मददगार साबित होगी, चाहे वह कटौती अपनी मर्जी से की जाए या उसे जबरन लागू किया जाए।